पेरिस
मार्च ५, २००७

सन्देश संख्या ११६

भाषा अद्वैत अन्तर्जगत की समझदारी में बाधक है जबकि बहिर्जगत के बौद्धिक क्षेत्र में विचारों के संवर्धन का साधन है

बंगाल के ऋषि–कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने छः हजार से भी ज्यादा भाव प्रवण गीतों की रचना की किन्तु अपने जीवन के अन्तिम चरण में उन्हें इस बात का दुःख था कि वे उस गीत की रचना नहीं कर सके जो प्रायः उनके अस्तित्व में प्रबलता से गूँजता रहता था ।

द्रष्टा और दृश्य, विचारक और विचार तथा नियन्त्रणकर्त्ता और नियन्त्रित के मध्य मिथ्या विखण्डन ''मैं'', उसकी जानकारी तथा मानसिक विकल्प हमेशा ही भाषा के सीमित क्षेत्र में होने वाले संवादों को तोड़–मरोड़ कर प्रस्तुत करते हैं ।

महात्मा गाँधी ने अपनी आत्मकथा का नाम ''सत्य के प्रयोग'' दिया था न कि ''सत्य के अनुभव'' जैसा कि सामान्यतः तथाकथित ''धार्मिक'' और ''आध्यात्मिक'' गुरू दावा करते हैं । गाँधी की यह प्रज्ञा बहुत अर्थगर्भित है । एक कठोर सत्य मानसिक अवशेषों एवं अवसादों से निर्मित अनुभव संरचना को ध्वंस कर देता है, अनुभवकर्त्ता और अनुभाव्य के द्वैत को समाप्त कर देता है तथा अनुभव के बंधनों से मुक्त कर देता है ।

पवित्र धर्मग्रन्थ विश्वासपद्धतियों, धर्मांधता एवं युद्धों के उत्पत्ति–स्थल बन गए हैं क्योंकि भाषा जो द्वैतपूर्ण बहिर्जगत में इतनी उपयोगी है, वही अन्तर्जगत में वास्तविक समझदारी उत्पन्न करने में बिल्कुल अनुपयोगी है । इसीलिए धर्मग्रन्थों के व्याख्याता अपनी चालबाजी, चालाकी एवं पाखण्ड के कारण विध्वंस का यह खेल खेल रहे हैं ।

तकनीकी दुनिया में दूसरों से प्राप्त ज्ञात अर्थात् जानकारी को भाषा के माध्यम से, अवधारणाओं एवं विचारों की मदद से शिक्षक से छात्रों तक आसानी से पहुँचाया जा सकता है । किन्तु ज्ञान को, मस्तिष्क की कोशिकाओं में घटित हुए उत्परिवर्तन को, चित्तवृत्ति के विखण्डनों के विलय को या समझदारी की ऊर्जा को दूसरे तक कैसे पहुँचाया जा सकता है ? यद्यपि गुरु प्रेम एवं करुणा के साथ समझदारी के आनन्द को साझा करने हेतु दिन–रात या घंटों बोल सकते हैं किन्तु फिर भी वे द्वैतपूर्ण भाषा का ही उपयोग करेंगे जो अन्तर्दृष्टि के बदले विचार, समझदारी के बदले अवधारणा एवं निष्कष, ज्ञात से मुक्ति के बदले ज्ञात के बन्धन को ही जन्म देती है । क्या इसका कोई उपाय है ?

हाँ, है । ''प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन, सेवया (भगवद्गीता खत : ३४)'' । श्रद्धावनत होकर, विवेकपूर्ण प्रश्न पूछकर, बार–बार ध्यानपूर्वक सुनकर तथा हृदय से सेवा करके । इस तरह संवहन की प्रक्रिया द्वारा एक शिष्य गुरु से मौलिक रूपान्तरण को प्राप्त कर सकता है जैसा कि विद्युत–चुम्बकीय क्षेत्र में घटित होता है । आध्यात्मिक बाजार के तथाकथित गुरूओं द्वारा सर्वव्यापी चैतन्य (कृष्ण) के इस गम्भीर प्राचीन सुझाव का अत्यधिक दुरुपयोग किया गया है । वे भ्रांत शिष्यों का शोषण करते हैं तथा उनमें दासत्व का भाव उत्पन्न कर अपने तथाकथित आश्रमों का संचालन यातना–शिविरों की तरह करते हैं ।

''मैं'' जो हमारे मस्तिष्क के नियन्त्रण–कक्ष में बैठा है, भ्रांति है । इस तथ्य की समझदारी हो जाय तो जो नैतिकता उत्पन्न होगी वह ''आत्मा'' और ''ईश्वर'' की उधारी अवधारणाओं से निर्मित एवं थोपी गई नैतिकता की अपेक्षा एक अधिक मजबूत आधार वाली नैतिकता होगी । ईश्वर के लिए, असीम एवं सर्वनिष्ठ मानव चेतना को समझें । व्यावहारिक कारणों से केवल सन्दर्भ–बिन्दु के रूप में ''मैं'' के अस्तित्व को छोड़कर और कोई ''मैं'' नहीं होता । यही ''मैं'' स्वार्थरहित अवस्था में सम्पूर्ण मानव जाति की मूलभूत आवश्यकताओं एवं रुचियों को समझने के योग्य बनाएगा । नैतिकता का मूल तत्त्व यही निःस्वार्थता है न कि ईश्वर के नाम पर पुरोहितों, मौलवियों एवं राजनीतिज्ञों द्वारा निर्गत फतवा या अन्य नैतिक आदेश । क्योंकि इनका ईश्वर इनका चरम लोभ है, इनका धर्म माफिया है तथा इनका राृष्टवाद कबीलावाद है । ''जीवन का पुनः आगमन'' के सिद्धांत ने इस सुन्दर पृथ्वी पर जीवन का अवमूल्यन किया है और मनुष्य

को समस्त प्रकार की विकृतियों एवं विभ्रांतियों से ग्रस्त किया है । चेतना का प्रत्येक क्षण अमूल्य उपहार है । इसे निरर्थक विवादों में व्यर्थ न करो बल्कि विभाजनरहित सम्पूर्णता की गम्भीरता में जीओ ।

सामाजिक, धार्मिक, औद्योगिक एवं व्यापारिक नैतिकता की अवमानना केवल धूर्त्त चित्तवृत्ति और उसके विचारों के कारण नहीं है । वस्तुतः उस नैतिकता की प्रकृति ही अनैतिक है । विचारों या फिर, भ्रामक भाषा के माध्यम से नैतिकता की इस भ्रष्ट प्रकृति के परे जाना सम्भव नहीं है । यह तो जीवन के माध्यम से चैतन्य का कार्य है । सच्चा धार्मिक जीवन किसी भी विश्वास–पद्धति पर आश्रित नहीं होता क्योंकि उसकी कोई आकांक्षा नहीं होती और न ही कोई आने वाला कल होता है । आकांक्षा समझदारी की ऊर्जा को न कर देती है । ''मैं–पना'स्वतः समाप्त होना होगा क्योंकि तभी सच्चा धार्मिक जीवन और उसकी प्रज्ञा का उदय होगा ।

तुम्हारा ईश्वर एक भ्रम है । यह यथार्थ का सामना करने का तुम्हारा भय मात्र है ।

तुम्हारा ईश्वर एक मिथ्या है । यह तुम्हें ''मैं'' के अकेलापन में फँसाकर कमजोर करता है ।

तुम्हारा ईश्वर एक धोखा है । यह तुम्हारी चित्तवृत्ति में ''मैं'' के रूप में आत्मपोषी विभाजन को हमेशा बनाये रखता है ।

तुम्हारा ध्यान विचारों के साथ संघर्ष है और विचारों की श्रृंखला द्वारा उन्हें एक आकार देने का प्रयास है ।

क्या तुम भाषा और बौद्धिक प्रयास के बिना इन तथ्यों के प्रति जागृत हो सकते हो ?

।। दक्षिणा मूर्त्ति की जय हो ।।

जो शाब्दिक अभिव्यक्ति के बिना भी शिक्षा देने में समर्थ थे ।'